Research Reinforcement | A Peer Reviewed International Refereed Journal | ISSN 2348-3857
Impact Factor (IIJIF): 5.454 | Vol. 8, Issue 1 | May. 2020 - October 2020 | pp. 82-88

भारत में मानवाधिकार : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

Research Reinforcement
ISSN 2348-3857

डॉ. कृष्ण गोपाल महावर

सह आचार्य, लोक प्रशासन विभाग, राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

शोध सारांश

वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में मानवाधिकार सभ्य समाज की आधारशिला है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों का इतिहास मानवीय मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों से ओत-प्रोत रहा है। तथापि कालान्तर में धार्मिक कट्टरता, जातिवाद, वर्णव्यवस्था, सामाजिक भेदभाव, गरीबी, महिला उत्पीड़न, कन्या भ्रूण-हत्या, बाल श्रम व व्यभिचार, शिक्षा का गिरता स्तर एवं सुलभ इण्टरनेट व्यवस्था ने समाज को दिग्भ्रमित कर दिया है। वास्तविकता यह है कि संवैधानिक प्रावधानों एवं लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के बावजूद राजनीतिक इच्छाशक्ति एवं संवेदनशील लोक सेवा के अभाव में मानवाधिकारों का हनन निरन्तर हो रहा है। अत: जब तक समाज का एक बड़ा वर्ग अपने व दूसरों के अधिकारों के प्रति जागरुक एवं सजग नहीं होगा तब तक राजनीतिज्ञ, नौकरशाही एवं मीडिया मानवाधिकारों की वंचना अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए करते रहेंगे। भारतीय संदर्भ में सच्चे लोकतंत्र एवं समतायुक्त समाज की रचना के लिए एक सम्पूर्ण संवेदनशील मानवाधिकार संस्कृति का निर्माण करना होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति गरिमा एवं सम्मानपूर्ण जीवन-निर्वहन कर सके। प्राय: भारतीय समाज अन्धविश्वास एवं अनैतिक परम्पराओं एवं मान्यताओं के चक्रव्यूह में जकड़ा हुआ है। अत: आवश्यक है कि शिक्षा तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण हो।

संकेताक्षर : *मानवाधिकार संकल्पना, मानवाधिकार चार्टर संरक्षण, प्रोन्नयन*

प्रस्तावना

मानव एक चिन्तनशील एवं विवेकशील प्राणी है, वह अपने क्रियाकलापों द्वारा स्वयं को समाज में प्रतिष्ठित करता रहा है और इसी प्रतिष्ठा और क्रियाकलापों में उसको प्राकृतिक रूप से कुछ अधिकार प्रदान किये गए हैं जो मानव के सर्वांगीण विकास में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सभ्य समाज में रहने वाले व्यक्ति में मानव अधिकार उसके स्वभाव में निहित है। मानव अधिकारों का क्षेत्र नागरिक अधिकारों से व्यापक है और जिस समाज में जितना अधिक मानवाधिकारों को नागरिक अधिकारों के रूप में लागू किया जायेगा, वहां उतनी ही अधिक नैतिक उन्नति होगी। मानव अधिकारों की भावना का उदय सभ्यता के विकास के साथ ही हो गया था। मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ इसलिए माना जाता है कि वह अपनी बुद्धि के प्रयोग से वह स्वत: तथा दूसरों की सुख-सुविधा के बारे में सोचता है। इस परोपकारी सोच के कारण ही मनुष्य प्राणियों में सिरमौर है तथा सभ्य कहलाता है।[1] मानवाधिकारों की सर्वव्यापी व्यवस्था का उद्देश्य सभी समाजों में व्यक्ति के सम्मानपूर्ण जीवन के लिए परिस्थितियों का पुनर्निर्माण और परीक्षण करना है।[2]

मानव समुदाय में रहने के फलस्वरूप प्रत्येक मनुष्य को कुछ प्राकृतिक एवं मूल अधिकार प्राप्त है जिनके अभाव में मानव-जीवन अत्यन्त कष्टमय हो जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए भोजन, पानी और वायु की नैसर्गिक आवश्यकता है उसी प्रकार सफल एवं गरिमामयी जीवन निर्वहन में मानवाधिकारों की भूमिका सर्वविदित है। यह शाश्वत सत्य है कि मनुष्य के जीवित रहने में मानवाधिकारों की अहम् भूमिका है। अर्थात् मानव जीवन की गुणवत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मानवता को एक लम्बे संघर्ष से जूझना पड़ा जो कि स्वतंत्रता का संघर्ष है, जिसके अभाव में जीवन का कोई मूल्य नहीं है। **सिजविक** ने लिखा है कि ''जब

स्वतन्त्रता का अर्थ किसी शर्त के बिना लिया जाता है तब वह मूल रुप से भौतिक दमन या कैद के अभाव की द्योतक है। स्वतन्त्रता भौतिक प्रतिबंधों के विरुद्ध नहीं है, अपितु अन्य व्यक्तियों के कार्य से उत्पन्न होने वाले दु:खदायी परिणामों के भय की प्रकृति से लगाए गये नैतिक प्रतिबंधों के विरुद्ध है।[3]

भारत के प्राचीन ग्रन्थों में मानवाधिकार की धारणा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। ऋग्वेद, पुराण, रामायण, महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों में अनेकानेक मानवाधिकारों और स्वतंत्रताओं के प्रच्छन्न रूप मिलते हैं। अथर्ववेद समाज्ञान सूक्त में वर्णित- 'समानो प्रपा सह वोत्रभाग:, समानो योक्त्रे सह वो यूनज्मि आरा: नाभिमिवभिता। अर्थात् भोजन एवं जल में सभी को समान अधिकार है। जीवन रथ का जुआ सभी के कंधों पर समान रूप से टिका है। जिस प्रकार रथ के पहिये के आरे,

रिम और धुरी से जुड़कर एक-दूसरे की मदद करते हैं, उसी प्रकार सभी मनुष्यों को सामंजस्यपूर्ण ढंग से एक-दूसरे की मदद करनी चाहिए।[4] ''मानव अधिकारों के संरक्षण का मूल भारत में दैहिक काल के धर्म में पाया जाता है, सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे संतु निरामया:।''[5]

प्रकृति से प्राप्त क्षमताएँ अविकसित रह जाती है और मनुष्य का जीवन व्यर्थ-सा हो जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रीन के शब्दों में ''मानवीय चेतना अपने विकास हेतु स्वतंत्रता चाहती है, स्वतन्त्रता अधिकारों में निहित है और अधिकार राज्य की मांग करते है।'' अर्थात् राज्य का अस्तित्व ही नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए है। वस्तुत: अधिकार मानव जीवन की वे परिस्थितियाँ होती है जिनके बिना साधारणतया कोई व्यक्ति अपने उच्चतम स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता है।[6] स्वतंत्रता एवं समानता न केवल सभ्य जीवन का आधार है अपितु सभ्यता का विकास भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं समानता पर निर्भर है।

वस्तुत: स्वतंत्रता का मूल भाव दूसरों की दासता, कैद एवं बंधनों से मुक्ति का नाम है। लास्की के अनुसार ''स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाए रखती है जिसमें व्यक्ति को जीवन का सर्वोत्तम विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।''[7]

मानवाधिकार संकल्पना एवं विकास के विभिन्न आयाम

यद्यपि मानव अधिकार निर्विवाद रूप से आज के समय में एक महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। फिर भी विभिन्न राज्यों की राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, विधिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में भिन्नता के कारण इस शब्द को परिभाषित करना कठिन है। डी. डी. बसु मानव अधिकारों को उन न्यूनतम अधिकारों के रूप में परिभाषित करते हैं, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी अन्य विचारण के मानव परिवार का सदस्य होने के फलस्वरूप राज्य या लोक प्राधिकारी के विरुद्ध धारण करना चाहिए।[8] मानव अधिकारों के स्रोतों में, मुख्यत: संधियाँ, रूढ़ियाँ, प्राकृतिक विधियां, न्यायिक निर्णय, शासकीय अभिलेख, अन्तर्राष्ट्रीय लिखित दस्तावेज इत्यादि प्रमुख है। मानवाधिकार, अब एक राजनीतिक और नैतिक संकल्पना ही नहीं रहीं अपितु वह एक विधिक संकल्पना भी है। मानवाधिकार अब विकसित होते हुए विधि शास्त्रीय साहित्य की विषयवस्तु बन गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद अब अधिकांश विद्धानों का मानना है कि मानवाधिकार व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार प्रदान करता है।[9]

मानव अधिकारों की अवधारणा मानव गरिमा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। अर्थात् हम मानवाधिकार को ऐसे अधिकार कह सकते हैं जो मानव को मानव होने के नाते मिलने चाहिए, वे अधिकार जो मानव होने के नाते अन्तर्निहित है।[10] इस अवधारणा के अनुसार मानव अधिकार मनमाने पूर्ण शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध है। मानव अधिकार विधिक है, क्योंकि इनमें अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में वर्णित अधिकारों एवं बाध्यताओं का क्रियान्वयन अन्तर्ग्रस्त है। यह नैतिक इसलिए है, क्योंकि मानव अधिकार मानव गरिमा का संरक्षण करने की मूल्य-आधारित प्रणाली है और वृहत्तर अर्थ में राजनीतिक है।

सामाजिक व्यवस्था में अत्याचारियों या परोपकारी तानाशाहों द्वारा विहित विधियों के असंतोष ने प्राकृतिक विधि की ओर आकर्षण पैदा किया जिसमें तर्क, न्याय और सार्वभौमिकता का समावेश था किन्तु यह सैद्धान्तिक अधिक था। 1620 में फ्लावर समझौता उनके दिमाग में अतिप्रभावी था। यह समझौता मूल रूप से राजा और प्रजा के बीच उनके नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा के लिए था।[11] ''द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् व्यक्तियों की स्थिति में रूपान्तरण हुआ जो कि समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विकास है। राज्यों के अतिरिक्त व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता से व्युत्पन्न अधिकारों और कर्त्तव्यों से युक्त होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय हो गया है। जबकि कतिपय नियम प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की स्थिति और कार्यकलाप के विनियमन से सम्बन्धित है, कतिपय अप्रत्यक्ष रूप से उसे प्रभावित करते हैं।[12]

प्रमाणिक रूप में सर्वप्रथम मानवाधिकारों के संघर्ष का परिणाम 15 जून, 1215 की वह महान् घटना है जब बिट्रेन के सिमेड नामक स्थान पर तत्कालीन सम्राट जॉन को उसके सामंतों द्वारा

कतिपय मानवीय अधिकारों को मान्यता देने वाले घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश होना पड़ा। इसे मैग्नाकार्टा कहा जाता है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के पश्चात राष्ट्रीय सभा ने 1789 ने व्यक्ति और नागरिक अधिकारों की घोषणा पारित की जिसमें कहा गया कि ''मर्यादा एवं अधिकारों से सभी लोग जन्म से स्वतंत्र एवं समान है।''[13] राष्ट्रीय असेम्बली ने यह माना कि अज्ञानता, उपेक्षा या मानवाधिकार के प्रति अवमानना, सरकारी भ्रष्टाचार एवं लोक दुर्भाग्य का एकमात्र कारण था। उन्होंने नैसर्गिक, अहस्तान्तरणीय और असंक्रमणीय अधिकारों की विधिवत् घोषणा का एक संकल्प लिया।[14] मानव अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा 1789 ने जो संदेश दिया वह जंगल में आग की तरह पूरे यूरोप में फैल गया और लार्ड एक्शन के शब्दों में इसका एक अति भ्रमित पृष्ठ..... वाचनालयों में ज्यादा वजनदार है और नेपोलियन की पूरी सेना से ज्यादा शक्तिशाली है।[15] इस प्रकार फ्रांस के संविधान ने सम्पूर्ण विश्व को स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातत्व का संदेश दिया।

पेटीशन ऑफ राइट्स की अनुमति चार्ल्स प्रथम ने 1628 में दी थी। यह एक संसदीय घोषणाा है, जिसमें लोगों की स्वतंत्रताओं की बात की गई। उदाहरण स्वरूप किसी के ऊपर संसद की अनुमति के बिना न तो ऋण अधिरोपित किया जायेगा और ना ही करारोपण। मनमाने ढंग से किसी को कैदी नहीं बनाया जायेगा। शांति के समय किसी के ऊपर मार्शल लॉ कमीशन का उपयोग नहीं किया जायेगा।[16] यदि किसी को जेल भेज दिया गया है तो या तो उसकी जमानत कर दी जायेगी या उसे छोड़ दिया जायेगा और न्यायाधीश सजा के आदेशों पर कोई ध्यान नहीं देंगे।[17]

दुनियां के अभिसंख्य राज्यों में मानवाधिकार गतिविधियाँ द्वितीय विश्व युद्ध की भयंकर त्रासदी का परिणाम है। इस भूमिका का प्रारम्भ 6 जनवरी 1941 में कांग्रेस को संबोधित करते हुए अमेरिकन राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूजवेल्ट के भाषण से हुई जिसमें उन्होंने मनुष्य की मूलभूत चार स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया। यथा-भाषण एवं विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्म तथा विश्वास की स्वतंत्रता, गरीबी से मुक्ति एवं भय से स्वतंत्रता। तत्पश्चात् अटलांटिक चार्टर में मानव अधिकारों का प्रयोग किया गया, तदनुरूप इसका लिखित उल्लेख संयुक्त राष्ट्र चार्टर में पाया जाता है, जिसको द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सेनफ्रांसिस्को में 25 जून, 1945 को अंगीकृत किया गया था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था तभी मित्र देशों के कई व्यक्ति और उन राज्यों के नेता शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करने के लिए प्रयास कर रहे थे। संयुक्त राष्ट्र स्थापित होने के पहले भी कई सम्मेलन तथा बैठकें आयोजित की गई थी।[18]

संयुक्त राष्ट्र चार्टर अनुच्छेद 55 में मूलवंश, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति विश्वव्यापी आदर तथा उनके पालन को सम्मिलित किया गया। ''संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् को मानव अधिकारों तथा उनके पालन को प्रोत्साहित करने के लिए अधिकार प्रदान किए हैं।[19] आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् इस निमित्त कमिशन नियुक्त कर सकती है।[20] लुइस हंन्किन के अनुसार, ''संयुक्त राष्ट्र किसी भी कथा में मानव अधिकारों का महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।[21] स्टार्क का मत है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर आबद्धकर लिखित नहीं था।[22] और इसमें आदर्श का कथन किया गया है, इसे बाद में अभिकरणों और अंगों द्वारा विकसित किया गया। 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ के गठन के पश्चात् 1946 में एलोनोर रूजवेल्ट की अध्यक्षता में 'मानवाधिकार आयोग' का गठन हुआ और संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 10 दिसम्बर, 1948 को मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा को अंगीकृत किया। आशय यह था इसका अनुसरण 'अन्तर्राष्ट्रीय बिल ऑफ राइट्स' द्वारा होगा जो कि प्रसंविदा करने वाले पक्षकारों पर वैध रूप में आबद्धकर होगा। इसी क्रम में महासभा ने 1950 में 10 दिसम्बर को ''मानवाधिकार दिवस'' घोषित करने का प्रस्ताव किया।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस दिशा में एक और ठोस कदम दिसम्बर, 1966 में मानव अधिकारों के पालन हेतु दो प्रसंविदाएँ अंगीकृत की। (i) सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर संविदा (ii) आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर प्रसंविदा। दोनों प्रसंविदाएँ दिसम्बर, 1976 में प्रवृत हुई, जब अपेक्षित संख्या में 35 सदस्य राज्यों ने उनका अनुसमर्थन कर दिया। 1981 के अंत तक 69 राज्यों ने उनका अनुसमर्थन कर दिया।[23] संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 20 दिसम्बर, 1993 को मानव अधिकारों के लिए संयुक्त राष्ट्र उच्च आयुक्त के पद का सृजन करने के लिए प्रस्ताव पारित किया।[24] वह मानव अधिकारों की अभिवृद्धि और संरक्षण के प्रति उत्तरदायी होगा। उच्चायुक्त का मुख्यालय जेनेवा तथा उसकी एक शाखा न्यूयार्क में होगी।

मानवाधिकारों के क्रियान्वयन के विषय में सबसे बड़ी बाधा यह है कि राज्यों के घरेलू मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ हस्तक्षेप नहीं कर सकता। किन्तु वर्तमान में अधिसंख्य मामले जिन्हें पहले राज्यों का घरेलू मामला समक्षा जाता था उन्हें अब अन्तर्राष्ट्रीय विषय माना जाता है। सामान्यत: अब यह बात स्वीकार की जाने लगी है कि मानव अधिकारों के निष्पादन में घरेलू मामलों जिनका उल्लेख चार्टर के अनुच्छेद 2 (7) में किया गया है, वह अपवाद है और

वे अब लागू नहीं होंगे।[25] मानव अधिकारों के उल्लंघन को रोकने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रणाली को और भी अधिक प्रभावी बनाया जाए। विश्व स्तर पर मानव विधिक नीति को निर्धारित करने की अत्यन्त आवश्यकता है।[26]

भारत में मानवाधिकारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

प्राचीन भारतीय चिन्तन में मानव अधिकारों का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में शांतिपाठ एवं राज्य की उत्पत्ति के कारणों में मानवाधिकारों की रक्षा निहित है। मत्स्य न्याय की समाप्ति के लिए राज्य एवं राजा की आवश्यकता महसूस होने पर राजा की उत्पत्ति के विचार दिये गये।[27] मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, अर्थशास्त्र कामन्दक नीति शास्त्र, शुक्रनीतिसार, महाभारत शांतिपर्व में मानवाधिकार का वर्णन मिलता है, चाहे आचार्यो ने प्रजा के अधिकारों का प्रत्यक्ष और स्पष्ट विवेचन नहीं किया है। कौटिल्य की मान्यता है कि सत्ता की उत्पत्ति ईश्वरीय आकांक्षाओं के नाते नहीं, प्रत्युत्तर व्यक्ति ने अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए की है।[28]

भारतवर्ष में मानवाधिकारों का अस्तित्व प्राचीनकाल से निरन्तर विद्यमान रहा है। तथापि इसकी वास्तविक परिणति भारतीय संविधान के 26 जनवरी, 1950 को अस्तित्व में आने के पश्चात हुई। संविधान की प्रस्तावना में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी गणराज्य की व्यवस्था का समावेश किया गया है। भारत में सभी लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता, विचार एवं अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, व्यवसाय इत्यादि स्वतंत्रताएँ होगी। अल्पसंख्यक वर्गो, पिछड़ी जातियों को समाज की मुख्यधारा से जोड़ने हेतु संरक्षण तथा उचित प्रतिनिधित्व विधानमण्डलों एवं लोक सेवाओं में दिया जायेगा।

विधि के समक्ष समता के अन्तर्गत लिंग, जाति, रंग, प्रजाति, जन्मस्थान, सम्प्रदाय और धर्म के आधार पर सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त हैं।[29] 27 सितम्बर 1993 के अध्यादेश द्वारा संविधान के अनु. 123(1) के अन्तर्गत ''राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग'' का गठन हुआ। भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए अनुच्छेद 32 में संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान किया गया है तथा अनुच्छेद 40 में ग्राम पंचायतों के गठन का प्रावधान है जिसके तहत 73वें एवं 74वें संविधान संशोधन विधेयक 1993 द्वारा पंचायती राज एवं नगरीय संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा गया जो मानवाधिकारों के उन्नयन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

प्राचीन सभ्यता में सदियों से इतिहास के प्रत्येक कालखण्ड में मानवाधिकारों की सरेआम बली दी जाती रही है जिससे भारत भी अछूता नहीं है। उदाहरणार्थ - दास प्रथा, लिंग, नस्ल, जातिभेद, कन्याभ्रूण हत्या, बालश्रम, सती प्रथा, दासी प्रथा, महिला अत्याचार, व्याभिचार एवं धार्मिक कट्टरता इत्यादि। मानव की गरिमा, सम्मान, मूल्यों एवं अधिकारों की रक्षा का दायित्व मात्र नौकरशाही पर छोड़ देना शोषण एवं अन्याय की पराकाष्ठा हो सकती है। इसके संवर्धन के लिए प्रत्येक नागरिक का दायित्व है, चाहे वह अमीर हो या गरीब, शासक हो या शासित, मालिक हो या दास, स्त्री हो या पुरुष सभी की सक्रिय भागीदारी अपरिहार्य है। अर्थात् मनुष्य की दिव्य निष्ठा अन्तर्आत्मा में इस कदर बलवती हो जाए कि वह लक्ष्य प्राप्ति तक विश्राम न करें।

अभी हाल ही में हाथरस जिले के भूलगढ़ी गांव की दलित कन्या के साथ 14 सितम्बर 2020 को चार नर पशुओं ने जो सामूहिक दुष्कर्म किया, उसने निर्भया काण्ड के घावों को हरा कर दिया है। मैं तो यह कहूँगा कि कई मामलों में यह निर्भया कांड से भी अधिक दु:खद एवं भयंकर स्थिति का निर्माण हो रहा है। 29 सितम्बर को उसने दिल्ली के एक अस्पताल में दम तोड़ दिया। हाथरस पुलिस ने लगभग एक हफ्ते तक इस जघन्य अपराध की रिपोर्ट तक नहीं लिखि और फिर पुलिस ने आधी रात को कन्या का शव आग के हवाले कर दिया। इन पुलिस कर्मियों का अपराध दुष्कर्मियों से कम नहीं है। सबसे शर्मनाक बात यह रही कि पिड़िता की डॉक्टरी जाँच के बाद दुष्कर्म के कोई प्रमाण नहीं मिले। क्या दुष्कर्म में प्रमाण 11 दिन बाद तक टिके रह सकते है।[30]

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या हाथरस का सामूहिक दुष्कर्म अन्तिम चीख होगी ? शायद नहीं क्योंकि हाथरस में दुष्कर्म का खून सूखा भी नहीं था कि बलरामपुर, भदोही, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि प्रान्तों में भी नृशंस दुष्कर्म की खबरें निरन्तर आती रही है। दुष्कर्म कैसे रूकेंगे, इस सवाल के जवाब से पहले सनकी दुष्कर्मियों को संरक्षण देने वाली सोच पर गौर कीजिए। राजनीति इसकी सबसे अहम् कड़ी है। अब प्रश्न यह है कि दुष्कर्म किसी जाति, धर्म या मजहब की समस्या नहीं अपितु पुरी इंसानियत पर कलंक है। जातीय व्यवस्था के कारण ही भाजपा के ओबीसी चेहरे उमा भारती ने हाथरस मामले से निपटने को लेकर योगी सरकार की आलोचना की है।[31]

मानवाधिकारों के संरक्षण एवं बहाली में न्यायपालिका एवं राजनैतिक नेतृत्व की भूमिका सर्वोच्च एवं अन्तिम है यद्यपि न्यायिक निर्णय गवाहों एवं सबूतों पर निर्भर है। यदि प्रभावशाली

व्यक्ति गवाहों के मुंह पर ताला लगाने एवं सबूतों को नष्ट करने में महारथ हासिल किये हुए हो तो न्यायिक निर्णय गुनाह को बढ़ाने में गुनहगार का सहयोगी बन जाता है। वास्तविकता यह है कि राजनैतिक एवं प्रशासनिक सत्ता की ताकत न्यायिक निर्णयों एवं प्रेस की स्वतंत्रता को प्रभावित कर मानवाधिकारों की रक्षा में अहम् चुनौती बन गए हैं।

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा 1948 के 72 वर्षो के बाद भी मानव अधिकारों के निष्पादन एवं संवर्धन की दिशा में सबसे बड़ी चुनौती मानव का मानव मात्र के प्रति शोषण है अर्थात् जिसके पास सामर्थ्य एवं सत्ता है वे मिलकर अहसहायों पर जुल्म एवं अत्याचार करने में अपने आप को गौरवान्वित समझते है। विकास के अधिकार में प्रवर्तन की कोई व्यवस्था नहीं है। परन्तु इस अधिकार को अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकारों की पंक्ति में रखना अपने-आप में महत्व का विषय है। राष्ट्रों के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंधों और सहयोग की दिशा में यह एक अभिनव पदचिह् है।[32] यह प्रमाणिक तथ्य है कि जहां विकास एवं गुणवत्ता में वृद्धि हुई है, वहां मानवाधिकारों का उल्लंघन अधिक हुआ है। जैसे- शहरी साक्षर वृद्धों की परिवार से पलायन, बढ़ती तलाक, दहेज एवं वेश्यावृति, बालश्रम, जातिवाद इत्यादि।

भारतीय समाज को सूक्ष्मता से देखने पर यह कहने में संकोच नहीं होता कि भारतीय समाज का बुनियादी ढ़ाचा अभी तक लोकतांत्रिक मूल्यों से परिपूर्ण नहीं हो पाया है। यह जन्मजात असमानता पर आधारित अनेक जातियों, उपजातियों में विभाजित है, जिसमें दलित सबसे नीचे है। जिनका दुखत अतित है और जिनकी दुर्भाग्यपूर्ण पहचान है। क्या किसी मानव के लिए दलित शब्द प्रयोग करना मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं है ? अत्यन्त पीड़ादायक स्थिति यह है कि भारत के वर्तमान राष्ट्रपति को दलित राष्ट्रपति की संज्ञा दी जाती है। लेखक की मान्यता है कि दलित शब्द असंवैधानिक एवं अमानवीयता के साथ-साथ मानवाधिकारों के उन्नयन एवं संवर्धन में अन्तहीन चुनौती है। अत: सरकार को दलित शब्द के किसी भी प्रकार के प्रयोग पर रोक लगानी चाहिए साथ ही एक भाषा, एक राष्ट्र की संकल्पना के साथ एक जाति या जातिविहिन समाज की संकल्पना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए संवैधानिक संशोधन की महत्ती आवश्यकता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जनमानस अब शीघ्र प्रगति तथा उत्तम परिणामों को चाहने की ललक तीव्र हो गई है। मानवाधिकारों के संवर्धन में अहम् भूमिका निभाने वाला अंग है संवेदनशील पदों पर कार्यरत प्रशासनिक पदाधिकारी गण। उदाहरणार्थ- प्रशासनिक अधिकारी, न्यायिक मजिस्ट्रेट, पुलिस प्रशासन, डॉक्टर एवं शिक्षक वर्ग इत्यादि। यदि उक्त लोक सेवकों में कर्तव्यबोध का प्रेरणास्पद संचार हो तो भारतवर्ष ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव सभ्यता की काया-पलट हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि प्रशासनिक विकास परिकल्पना को साकार रूप देकर भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद की जड़ों को खोखला कर शनै: शनै: खात्मा किया जाए।

आज विश्व के अधिसंख्य देशों का मानना है कि भारतीय संविधान में मानवाधिकारों से ओत-प्रोत आधारभूत स्वरूप के दर्शन होते हैं। किन्तु भारत का दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी, भारतीयों का शोषण करते थे और आज संविधान के संरक्षक कथित भारतीय जनप्रतिनिधि ही गरीब एवं असहाय जनता को उनके अधिकारों से वंचित करने पर आमादा है। अत: आवश्यकता है चहुँमुखी प्रशासनिक विकास की ताकि शासन पवित्र संविधान के प्रति वचनबद्ध होकर विधि को मूर्तरूप में साकार कर सकें।

वर्तमान में शासन व्यवस्था में जनप्रतिनिधियों एवं कर्मचारियों के मध्य '**उभरता शीत युद्ध**' एवं महिला एवं पुरूष नेतृत्व में आपसी सामंजस्य के अभाव ने मानवाधिकारों को वैचारिक मतभेद की दहलीज पर लाकर खड़ा कर दिया है। सदियों से वर्णभेद एवं भेदभाव पूर्ण अन्तहीन शृंखला में जकड़े रहने से अनुसूचित जाति, जनजाति, पिछड़ी जातियां एवं महिला वर्ग उदासीन और पराधीन मानसिकता के चक्रव्यूह में फंसने के कारण शिक्षा, प्रगति, गरिमा एवं स्वाभिमान पूर्ण जीवन से उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही नहीं हो पाया है । अर्थात् मानवाधिकारों की रक्षा एवं संवर्धन के लिए 21वीं सदी के समक्ष एक चुनौती यह है कि हम गरीब और गरीबी के साथ इस सदी में प्रविष्ट तो हो गये है किन्तु उनके अस्तित्व को कब तक जिन्दा रख पायेंगे। अत: गरीबी मानवाधिकारों की रक्षा में एक अन्तहीन चुनौती बन गई है जिसे दूर करने में शासन व्यवस्था का अहम् भूमिका को निर्वहन करना होगा।

सम्पूर्ण विश्व में लोकसेवा की गतिविधियाँ सर्वव्यापी होती जा रही है, जिसे आधुनिक व्यवस्था का ह्रदय माना जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। प्राय: विकासशील देशों की राजनैतिक व्यवस्था अस्थिरता के दलदल में फंसी रहती है। अत: राज्य के लक्ष्यों और मूल्यों (मानवाधिकारों) को लागू करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी नौकरशाही के कंधे पर है। तथापि नौकरशाही अपने भ्रष्ट आचरण एवं कार्यप्रणाली के कारण प्रारम्भ से ही शंका के दायरे में रही है। **कार्ल मार्क्स** जैसे अनके विद्वान इसे शोषण के पर्यायवाची के रुप में देखते है, किन्तु अभी तक नौकरशाही का सर्वश्रेष्ठ विकल्प ढूंढ़ने में असफल रहे हैं।

संक्षेप में नौकरशाही अपने आप में बुरी नहीं है अपितु आधुनिक वर्षो में यह प्रवृति बढ़ रही है कि जब लोक सेवक निडर एवं निष्पक्ष होकर मानवाधिकारों की बहाली एवं संवर्धन की भूमिका निभाते हैं तो मंत्रीगण इसे प्रशासन में रूकावट डालने वाला व्यवहार मानते हैं। ''मंत्री ऐसे अधिकरियों को प्राथमिकता देने लगे हैं जो संदेह प्रकृट किये बिना उनकी पद्धति का समर्थन करते हैं। आलोचना करने वाले अधिकारियों को विरोधी तत्व समझा जाता है और उनकी प्रभावकारिता और सत्ता को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है।[33]

अत: लोक सेवा को प्ररिस्थितियों से सामंजस्य करने वाले ''प्रबन्ध दर्शन'' से जोड़कर इसे संवैधानिक आदर्शो के प्रति प्रतिबद्ध करके मानवाधिकारों की ओर अभिमुख होने के लिए सुदृढ़ इच्छाशक्ति की ओर प्रेरित किया जाना आवश्यक है। अन्यथा नौकरशाही का विद्रूप रूप किसी भी राष्ट्र की सरकार के भाग्य का सबसे बड़ा अभिशाप बन सकता है।

निष्कर्ष

समसामयिक वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के युग में मानव अधिकारों का विषय सर्वाधिक चर्चित एवं प्रासंगिक है। सत्य यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ, मानवाधिकार आयोग एवं विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों के 72 वर्षो के प्रयासों के बावजूद मानवाधिकारों का हनन निरन्तर बदस्तूर जारी है। मात्र संविधान, कानूनों एवं मानवाधिकार आयोगों के माध्यम से मानवाधिकारों के हनन को नहीं रोका जा सकता।

इलाहाबाद हाईकोर्ट ने हाथरस जिले में दुष्कर्म पिड़िता की मौत के बाद पुलिस प्रशासन द्वारा उसका देर रात अन्तिम संस्कार किये जाने को मानवाधिकारों का उल्लंघन बताया है। जस्टिस पंकज मित्तल और जस्टिस राजन राय ने राज्य सरकार में जवाबदेही तय करने और भविष्य में इस तरह के मामलों में अन्तिम संस्कार के लिए नियम बनाने का निर्देश दिया।34 हाथरास में दलित युवति के साथ ऊँची जाति के चार युवकों द्वारा बर्बर दुष्कर्म, मृत्यु और पुलिस द्वारा रात्री में जला देने की घटना ने देश की चेतना को हिलाकर रख दिया। दुर्भाग्य से मिडिया रिपोर्टो की माने तो उत्तर प्रदेश प्रशासन और पुलिस ने न्याय करने और सच्चाई सामने लाने की बजाय, पहले ही दिन से न्याय को दबाने का प्रयास शुरू कर दिया था। ऐसे में यह सोचकर रूह कांप जाती है कि उत्तरप्रदेश में दलित समुदाय की लाखों महिलाओं को किस डर के साथ जीना पड़ता होगा।[35]

विचारणीय प्रश्न यह है कि ज्यों-ज्यों-समाज विकास और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहा है, त्यों-त्यों उत्पीड़न एवं अत्याचार की प्रघटनाओं में वृद्धि हो रही है। आज समाज में अन्याय एवं भेदभाव दिखाई देता है उसके दो कारण प्रमुख है। एक प्राकृतिक असमानताएँ और दूसरी सामाजिक असमानताएँ। ''अवसरों की समानता का लक्ष्य तभी सम्भव है, जब प्रत्येक मानव के लिए समुचित अवसर उपलब्ध हों, जिनमें समानता लानी है। वह किसी व्यवसाय या व्यापार में सफल होना ही नहीं, अपितु एक सुन्दर जीवन व्यतीत करना अथवा व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना है।[36]

यह प्रमाणिक तथ्य है कि जहां विकास एवं जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि हुई है वहां सर्वाधिक मानवाधिकारों का उल्लंघन एवं हनन हुआ है। इस संदर्भ में अमेरीका में काले एवं गोरे का भेद आज भी बदस्तूर जारी है। भारत में जातिवाद एवं वर्णभेद जनमानस के मन में इस तरह कुण्डली मारकर बैठा हुआ है कि छूआछूत, जातिगत ऊँच-नीच, दलित व्याभिचार, अलग से शमशान, कुंए बावड़ी, दलित दूल्हों को घोड़ी से उतारने जैसे घटनाऐं ग्रामीण परिवेश में सामान्यत: अधिक देखने को मिलती है।

आज हमें समाज में एक ऐसी स्वस्थ मानसिक सोच की आवश्यकता है जो ईश्वर निर्मित सृष्टि की सुन्दर कृति स्त्री-पुरूष के मध्य समान आदर एवं सम्मान का भाव जाग्रत करा सके। महिला सशक्तिकरण मात्र एक नारा नहीं बने अपितु एक ऐसी स्वस्थ मानसिक सोच बने जिससे स्त्री पुरूष के मध्य एक-दूसरे के प्रति सम्मान और जातिगत वर्गीय भेद मिट सके।[37]

सारांशत: कहा जा सकता है कि राष्ट्र का राजनैतिक नेतृत्व एवं नौकरशाही कृत संकल्प होकर मानवाधिकारों की रक्षा एवं संवर्धन के लिए अन्तर्आत्मानुरूप पूर्ण निष्ठा एवं निर्भिक होकर निरन्तर प्रयासरत रहे। जिससे कि भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के बच्चे संसार के चमकते सितारों की भांति सम्पूर्ण विश्व को शोषणमुक्त कर गौरवान्वित कर सके। साथ ही प्रत्येक नागरिक मानवीय मूल्यों को जीवन का आधार मानकर ''जिओ और जीने दो'' की संकल्पना को अपने कृत्यों द्वारा साकार करे।

भारतीय समाज ने लम्बे सामंती एवं औपनिवेशिक काल के दौरान विषमता एवं शोषण की प्रक्रिया के रहते जिस मानवीय विद्रूपता को व्यवस्थाबद्ध किया है अब उसे मानवीय बनाने के लिए भारतीयों में मानवाधिकारों की चेतना प्रबल करने की आवश्यकता है ताकि भारतीय समाज गुलामी और गैरबराबरी इतिहास के कोढ़ से मुक्त हो और मानवीय समता एवं गरिमा आधारित समाज का पुनर्सृजन हो सके। भारत में हो रहे निरन्तर दुष्कर्म और हत्या के प्रति संवेदनहीन होकर दलित जनता के आधारभूत मानव अधिकारों

की वंचना कर राजनीतिक व्यवस्था ने उसके हिसांत्मक दमन का जो अभियान छेड़ रखा है वह अब मानवाधिकार का एक ज्वलंत प्रश्न है और भविष्य में सरकारों को इनकी रोकथाम के उत्तर तलाशने होंगे।

संदर्भ सूची

1. इण्टरनेशनल लॉ एसोसिएशन द्वारा आयोजित मानवाधिकार पर सेमिनार में न्यायमूर्ति पी.एन.भगवती, न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय के उद्घाटन भाषण (1980) में उद्धत, पृ.सं. 7
2. सिजविक, एलिमेन्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स, पृ.सं. 45
3. लास्की, ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स, पृ.सं. 153
4. एजोजिओफर, प्रोटेक्शन ऑफ ह्यूमन राइट्स अण्डर दी लॉ, पृ.सं. 5
5. टोपेन टाइम्स, इण्टरनेशनल लॉ. वाल्यूम-I (1922), पृ.सं. 847
6. टोनी, आर.एच., ईक्वेलिटि, पृ.सं. 103-104
7. स्वरूप, जगदीश, ह्यूमन राइट्स एण्ड फण्डामेन्टल फ्रीडम, 1975, पृ.सं. 12
8. राबर्टसन, ए.एच., दी इन्टरनेशनल प्रोटेक्शन ऑफ ह्यूमन राइट्स, पृ.सं. 3
9. वेड एण्ड फिलिप्स, कान्स्टीट्यूशनल लॉ, पृ.सं. 6
10. होल्ड्सवर्थ, हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लॉ, वाक्यूम-V, पृ.सं. 452
11. सेन्ट जेम्स पैलेस की घोषणा (1941), अटलान्टिक चार्टर (1941), संयुक्त राष्ट्र घोषणा (1942), तेहरान घोषणा (1943), मास्को घोषणा (1943), डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन, याल्टा सम्मेलन तथा सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन।
12. संयुक्त राष्ट्र चार्टर, अनुच्छेद 62(2)
13. संयुक्त राष्ट्र चार्टर, अनुच्छेद 68
14. हेन्किन, लुइस, द यू.एन.एण्ड ह्यूमन राइट्स, इण्टरनेशनल आर्गेनाइजेशन, 1965, पृ.सं. 504
15. स्टार्क, इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, 1984, पृ.सं. 35
16. यूनाइटेड किंग्डम ने 1976 में और भारत ने 10.04.1979 को अनुसमर्थन किया।
17. महासभा प्रस्ताव 48/11 दिनांक 20 दिसम्बर, 1993.
18. बसु, डी.डी., ह्यूमन राइट्स इन कान्स्टीट्शनल लॉ, 1994, पृ.सं. 5
19. मिलर, डब्ल्यू, ह्यूमन राइट्स, ए बिबलियोग्राफी 1970-76 (1977), ए.रूसिस ह्यूमन राइट्स, ए सलेक्टेड बिबलियोग्राफी (1969) आर.रिच एण्ड वी शिमाने, इण्डटरनेशनल, ह्यूमन राइट्स, ए सलेक्टेड बिबलियोग्राफी, 1979
20. भारत का संविधान, अनुच्छेद 14 एवं 15
21. नूर मोहम्मद, डॉ. ए.एन., द ह्यूमन राइट्स प्रोग्राम ऑफ द यूनाइटेड नेशन एण्ड द डोमेस्टिक जूरिडिक्शन क्लास, ए.आई. आर. 1958, जर्नल सेक्शन, पृ.सं. 89
22. कृष्णा अय्यर, वी.के., मास एक्सपल्सन एण्ड वायलेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स, आई.जे.आई.एल.वाल्यूम 13, संख्या 2 (1973), पृ.सं. 9, 175
23. हुसैन, डॉ. कमाल, प्रोगामिंग ह्यूमन राइट्स इन दी ग्लोबल मार्केट प्लेस, लॉ एण्ड जस्टिस, खण्ड (4-7), पृ.सं. 29, 43
24. हिटलर, एडाल्फ, मेरा संघर्ष हिटलर की आत्मकथा (अनु.) एन.एल.मदान, जगतराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1998, पृ.सं. 175
25. कोठारी, रजनी, पंचायती राज री असेस्मेण्ट, इकॉनोमिक एण्ड पॉलिटिक्स वीकली, मई 13, 1961, पृ.सं. 758
26. खन्ना, एच.आर., ज्यूडिशियल एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्मस इण्डियन एक्सपियरेंस, इण्डियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ. सिट., पृ.सं. 501
27. पीटर्स एण्ड बेन, सोशल प्रिंसिपल एण्ड द डेमोक्रेटिक स्टेट, पृ.सं. 119